शिक्षा अपने आप में मूल्यों का संप्रेषण है

प्रो. कृष्ण कुमार से राघवेन्द्र प्रपन्न की बातचीत

इस बातचीत में प्रो. कृष्ण कुमार ने एन. सी. ई. आर. टी. की पाठ्यचर्या, पाठ्यक्रम एवं उसके तहत तैयार की गयी पाठ्यपुस्तकों को लेकर दायर रिट पर सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णय को लेकर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की है । बातचीत में धर्म, मूल्य और शिक्षा के रिश्ते;पाठ्य-चर्या, पाठ्यक्रम एवं पाठ्यपुस्तकों से ज्ञान निर्माण की प्रक्रिया के संबंध एवं शिक्षा-प्रणाली के केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण की परिघटनाओं पर भी प्रो. कृष्ण कुमार ने विस्तार से विचार रखे हैं । शिक्षा की प्रक्रियाओं में राज्य सत्ता और न्यायपालिका की भूमिका एवं हस्तक्षेप पर भी उन्होंने बेबाक टिप्पणी की है। इस संवाद में उन्होंने शिक्षा के सामाजिक सरोकारों, जनतांत्रिक मूल्यों और संस्थागत स्वायत्तता को लगातार संदर्भित किया है ।

राघवेन्द्र : *एन.सी.ई.आर.टी. की पाठ्यचर्या, पाठ्यक्रम एवं उसके तहत तैयार की गई पाठ्यपुस्तकों को लेकर दायर रिट पर सर्वोच्च न्यायालय ने जो निर्णय दिया है, उस पर आपकी क्या प्रतिक्रिया है ?*

कृष्णकुमार : सर्वोच्च न्यायालय का यह फैसला सभी लोगों के लिए निराशाजनक है । पर यह उनके लिए राहत देने वाला है जो इस आरोप के घेरे में थे कि *राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा* नामक दस्तावेज पर केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड (केब) की राय नहीं ली गई है। ध्यातव्य है कि याचिकाकर्ताओं ने जोरदार ढंग से यह बात उठाई थी कि सरकार ने इस संबंध में मुख्य एवं स्थापित प्रक्रिया को नजरअंदाज किया है। इसलिए *राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा* को अवैध घोषित कर देना चाहिए । पर न्यायालय ने इस संबंध में यह कहा है कि 'केब' चूंकि एक सैच्युटरी निकाय नहीं है इसलिए *राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा* दस्तावेज के संदर्भ में केब से संपर्क किया जाना सरकार के लिए मेनडेटरी नहीं है। न्यायालय की यह दलील एक तकनीकी दलील है क्योंकि दरअसल शिक्षा के पूरे जगत् में एक भी संस्था सैच्यूटरी नहीं है । चाहे वह एन.सी.ई.आर.टी. स्वयं हो, (क्योंकि एन.सी.ई.आर.टी. एक रजिस्टर्ड सोसाइटी है) या फिर यू. जी. सी. है। इस कारण यह सोचना कि एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा बनाया गया फ्रेमवर्क तो पूरे देश में लागू होगा लेकिन केब की मीटिंग इसलिए नहीं बुलाई जा सकती क्योंकि वह कानूनी नहीं है, यह एक बहुत ही कमजोर तर्क है । दरअसल यह मामला केब के सामने इसलिए नहीं ले जाया गया क्योंकि सरकार इस पर बहस नहीं चाहती थी और वह इसलिए नहीं चाहती क्योंकि यह पाठ्यक्रम 1986 की *राष्ट्रीय शिक्षा नीति* के कुछ मुख्य बिन्दुओं को काटता है। इस संबंध में दिलचस्प बात यह है कि कोर्ट ने यह भी नहीं नकारा है कि केब को बुलाया जाना चाहिए। तीन में से दो न्यायाधीशों ने तो स्पष्ट ही लिखा है कि अभी भी केब को पुनर्गठित करके पाठ्यक्रम पर उसकी राय ली जाए। लेकिन साथ में यह भी कहा गया है कि अगर यह राय नहीं ली गई है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि पाठ्यचर्या असंवैधानिक है। केब इस लायक है कि तीन में से दो न्यायाधीशों ने इसकी राय लेने की जरूरत को रेखांकित किया है तो इसका मतलब है कि केब की कोई न कोई हैसियत है । और अगर केब की हैसियत है तो फिर इसका मतलब है कि उसकी राय पाठ्यक्रम के लागू होने के बाद ली जाये पहले नहीं-यह बात समझ में नहीं आती। दूसरे न्यायाधीश ने तो यहां तक कहा है कि केब में इस पाठ्यक्रम पर बहस न होने से जनमानस में संदेह बना हुआ है। यह बात बहुत महत्वपूर्ण है, लेकिन यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि इस बात को नोटिस करने के बावजूद इसे भुला दिया गया ।

राघवेन्द्र : *धर्म के बारे में शिक्षा को सामान्यत: मूल्य संवर्धन और सदाचरण से जोड़ा जाता है, इस संबंध का निहितार्थ क्या है ?*

कृष्णकुमार : न्यायालय के निर्णय का दूसरा पहलू महत्वपूर्ण है। इस दूसरे पहलू पर दरअसल अभी बहुत विचार-विमर्श करने

की जरूरत है । याचिका में यह बात कही गई थी कि राष्ट्रीय कैरिकुलम फ्रेमवर्क में मूल्यों की शिक्षा का उल्लेख किया गया है और मूल्यों के स्रोत के रूप में धर्म की बात की गई है। यह बात च्यवन कमेटी के आधार पर कही गई है । पर मूल्यों के स्रोत का जहां तक सवाल है तो 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति को देखते हुए मूल्यों का स्रोत किसी भी प्रकार से धर्म को नहीं माना जा सकता है । संविधान को माना जा सकता है और संविधान में दिए गए मूल्यों को व्यवहार में लाया जा सकता है।

न्यायालय ने माना है कि इस दस्तावेज में ऐसा कुछ भी नहीं है जो धर्मनिरपेक्षता को चोट पहुंचाता हो। इसी नीति को आगे बढ़ाते हुए न्यायालय ने यह राय दी है कि धर्म की व्याख्या हमें बहुत उदार ढंग से करनी चाहिए । धर्म का अर्थ कोई एक विचारधारा या धर्म से जुड़े हुए कर्मकाण्ड नहीं हैं। धर्म का अर्थ तो उन सार्वभौमिक मूल्यों से है जिनको अलग-अलग धर्मों में मूल रूप से देखा जा सकता है । यानी कोर्ट की राय में अलग अलग धर्मों में मूल्यों को लेकर एक तरह की बुनियादी एकरूपता है, और इस दृष्टिकोण से अगर देखा जाए तो जहां तक बुनियादी मानवीय मूल्यों का सवाल है तो शिक्षा में कोर के रूप में उनका इस्तेमाल किया जा सकता है, बल्कि ऐसा करना चाहिए। कोर्ट के अनुसार भारत में चरित्र एवं नैतिकता का इधर के दौर में व्यापक पतन हुआ है। न्यायालय के फैसले में इसको लेकर भारी कष्ट व्यक्त हुआ है। लेकिन इस बात को कहते हुए कोर्ट ने बहुत स्पष्ट रूप में यह भी कहा है कि लगातार इस बात की जांच या निगरानी की जानी चाहिए कि मानवीय मूल्यों के स्रोत के रूप में धर्म के इस्तेमाल को बच्चों के दिमाग पर किसी भी प्रकार से, किसी एक संप्रदाय या विचारधारा को थोपने का माध्यम नहीं बनाया जाना चाहिए। इस बात की लगातार पुष्टि की जानी चाहिए कि शिक्षा, धर्म से जुड़े हुए कर्मकाण्डों को या धर्म से जुड़ी हुई पूजा पद्धतियों को और रीतियों को प्रोत्साहित करने वाली न हो। यानी उनको ही तो नहीं पढ़ाया जा रहा हो बल्कि धर्म के केवल दार्शनिक पहलुओं को पढ़ाया जा रहा हो।

अगर हम लोगों की धार्मिक आस्थाओं के आधार पर समाज का वर्गीकरण करते हैं तो जो बहुसंख्यक हैं वो हमेशा ही बहुसंख्यक रहेंगे। वैसी स्थिति में फिर लोकतंत्र में बहुमत जानने की इच्छा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। हमेशा ही एक निश्चित बहुमत रहेगा और एक निश्चित अल्पमत रहेगा। तो लोकतंत्र में यह जो व्यवस्था है कि बार-बार हर पांच बरस पर यह जाना जाए कि लोग क्या चाहते हैं, बहुसंख्यक लोग क्या चाहते हैं, इसका कोई मतलब ही नहीं रह जाएगा। अगर उनकी इस चाह को धर्म के दायरे में रखकर जाँचा जाए तो फिर पांच-पांच वर्षों बाद यह जांचने की जरूरत नहीं रह जाती है क्योंकि बहुसंख्यक धर्म तो बहुसंख्यक ही रहेगा।

यह मसला दरअसल शिक्षा के इतिहास के अध्याय में अनेक बार उभरा है कि मूल्यों की शिक्षा अगर दी जानी चाहिए तो किस प्रकार दी जानी चाहिए या किस ढंग से दी जानी चाहिए । न्यायालय की राय जो इस बार आई है इसको हम लम्बे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में लोगों के द्वारा (जिसमें न्यायालय भी शामिल है) प्रकट की गई रायों के इतिहासक्रम में रखकर देखें। पिछले अगर 100 वर्षों पर गौर करें तो हम पाते हैं कि यह बार-बार उभरने वाला मसला है। दिलचस्प बात यह है कि इस बार भी जब यह मसला न्यायालय के फैसले में उभरा है तो स्वयं एन.सी.ई.आर.टी. में इस बात को लेकर कोई खास उत्साह नहीं दिखाई देता है कि धर्म को पढ़ाने के लिए कोई पाठ्यक्रम बनाया जाए या धर्म से जुड़े हुए मूल्यों का कोई अलग से विषय बनाया जाए। बल्कि स्वयं एन.सी.ई.आर.टी. इस बात को लेकर बड़े संतोष में दिखाई देता है कि मूल्यों की शिक्षा सीधे-सीधे न दी जाए बल्कि अलग-अलग विषयों में पिरो दी जाए। एक तरह से कह सकते हैं कि न्यायालय का यह जो फैसला है वह एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा बनाए गए पाठ्यक्रम और इस समय चल रही नीति से एक कदम आगे जाकर या इस पूरे मुद्दे से जुड़े विवाद की परिधि से बाहर दी गई राय है। धर्म को चरित्र से या आचरण से, मूल्यों से जोड़ने की एक लम्बी परंपरा है और निश्चित रूप से यह परम्परा आधुनिक शिक्षा के इतिहास से जुड़ी हुई है। इसलिए जब इस प्रश्न पर हम विचार कर रहे हैं तो हमको आधुनिक शिक्षा की परिकल्पना के लिए एक अलग परिधि चाहिए । इस बात में सच्चाई है कि सभी धर्मों का उदय आखिरकार सामाजिक जीवन में मनुष्य के आचरण को एक निश्चित आकार

दने की चुनौती के चलते ही हुआ है । ऐसा कोई धर्म नहीं है जिसमें मनुष्य के आचरण को लेकर, खासकर उस आचरण को लेकर जो अन्यों के साथ हमारे संबंधों को निर्धारित करते हैं कोई बात नहीं कही गई हो । जो प्रश्न इस पूरे संदर्भ में उभरता है वह केवल आधुनिक शिक्षा के संदर्भ में ही है क्योंकि आधुनिक शिक्षा कुछ निश्चित बंधनों से या आधुनिक परिस्थितियों की परिधि में ही आकार ग्रहण करने के लिए विवश है।

अगर लोकतंत्र की परिकल्पना पर गौर करें तो इसमें अगला प्रश्न ही यह पैदा होता है कि लोकतंत्र क्या लोगों की धार्मिक आस्थाओं के आधार पर उन पर शासन करता है या लोगों की धार्मिक आस्थाओं को उनके लौकिक जीवन से अलग रखकर उन पर शासन करता है। यह सबसे बड़ा सवाल है और वह इसलिए है क्योंकि अगर हम लोगों की धार्मिक आस्थाओं के आधार पर समाज का वर्गीकरण करते हैं तो जो बहुसंख्यक हैं वो हमेशा ही बहुसंख्यक रहेंगे। वैसी स्थिति में फिर लोकतंत्र में बहुमत जानने की इच्छा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। हमेशा ही एक निश्चित बहुमत रहेगा और एक निश्चित अल्पमत रहेगा। तो लोकतंत्र में यह जो व्यवस्था है कि बार-बार हर पांच बरस पर यह जाना जाए कि लोग क्या चाहते हैं, बहुसंख्यक लोग क्या चाहते हैं, इसका कोई मतलब ही नहीं रह जाएगा। अगर उनकी इस चाह को धर्म के दायरे में रखकर जाँचा जाए तो फिर पांच-पांच वर्षों बाद यह जांचने की जरूरत नहीं रह जाती है क्योंकि बहुसंख्यक धर्म तो बहुसंख्यक ही रहेगा। लोकतंत्र की यह व्यवस्था है कि बार-बार लोगों के पास जाकर बहुमत को जाना जाए-इस व्यवस्था का जो मुख्य अवधारणात्मक आधार है वह यही है कि हम ऐसे मुद्दों पर एक वैचारिक समुदाय बनायें जो निरन्तर बदलते रहते हैं और जिन मुद्दों को लेकर लोगों की राय निरंतर बदली जा सकती है। इस कारण से विभिन्न राजनीतिक दल और विभिन्न विचारधाराएं लोगों की मदद कर उनको अपने पक्ष में लाने की कोशिश करती हैं। यानि कोई ऐसा मानक बहुमत न चुना जाए जो लोगों को स्थाई रूप से बांटता हो और ऐसे मानकों में सबसे प्रमुख धर्म है। यानि इसका आशय यह निकला कि अगर हम लोकतंत्रीय समाज की कल्पना करें तो ऐसी समाज व्यवस्था में धर्म का या लोगों की धार्मिक आस्थाओं का सीधे-सीधे कोई स्थान नहीं है-राज्य से जुड़ी हुई किसी कार्यवाही में। वर्ना हुकूमत का कोई अर्थ नहीं है, बहुमत जानने का कोई अर्थ नहीं है। कम-से-कम अस्थाई तौर पर बहुमत जानते रहने की और उसको निरंतर लचीला रखने की जो एक लोकतंत्र में अनिवार्य शर्त है, यह तब खत्म हो जाती है जब हम धार्मिक आस्थाओं को लोगों के वर्गीकरण का आधार बनाते हैं।

यहीं से उस विचारधारा का जन्म होता है या उसे आकार मिलता है जिसे कि हम धर्म-निरपेक्षता की अवधारणा कहते हैं। उसको धर्म निरपेक्षता कहते हुए कई लोगों को बहुत कोफ्त होती है । लेकिन दुर्भाग्यवश यह जो अनुवाद पर आधारित हिन्दी है उसमें इसके लिए कोई और विशेषण नहीं है । दरअसल इसका अर्थ है लोगों के लौकिक जीवन से राज्य का रिश्ता, न कि उनके आध्यात्मिक जीवन से । अब अगर इसे दूसरी दिशा में मोडें तो शिक्षा, राज्य की जिम्मेवारी है और अगर शिक्षा राज्य की जिम्मेवारी है यह राज्य के ही तंत्र का अंग है, तो फिर शिक्षा में सैक्युलर विचारधारा का प्रभुत्व होना चाहिए, इसे लोकतंत्र के लिए अनिवार्य शर्त होना चाहिए। अगर इस तर्कप्रणाली को हम स्वीकार करते हैं तो फिर अगला चरण हमसे यही कहता है कि धर्म से जुड़ी हुई आस्थाओं को, उन आस्थाओं में परिलक्षित होने वाले मूल्यों के लिए लोगों के व्यक्तिगत जीवन में स्थान हो। लोगों के सामुदायिक जीवन में इसका स्थान हो सकता है लेकिन वो स्थान राज्य द्वारा न तो प्रभावित किया जाना चाहिए और न ही राज्य की कोई दिलचस्पी उनके जीवन के इस पहलु में होनी चाहिए । इस प्रकार शिक्षा का दायरा एक स्वतंत्र वैचारिक दायरा होगा । इस स्वतंत्र वैचारिक दायरे में यह बात भी शामिल है कि सामाजिक जीवन के किसी पहलु पर जांच करने के, उसका विश्लेषण करने के औजार बच्चों को दिए जाएँ । इन पहलुओं में धर्म भी शामिल है। यानि स्कूल वह स्थान है (इस शिक्षा प्रणाली का) जहां पर बच्चों में ऐसे कौशल विकसित किए जा सकते हैं जिन कौशलों के जरिए वो घर, परिवार, समाज या राज्य के संदर्भ में उभरने वाली परिस्थितियों को परखें, विश्लेषण करें, आकलन करें और अपने लिए निर्णय की स्वतंत्रता अक्षुण्ण रखें । यदि शिक्षा के दायरे को हम इस प्रकार परिभाषित करते हैं तो इसके मूल्यों की कल्पना हमें इसी दायरे में करनी पड़ेगी। यानि वो कौन से मूल्य हैं जो इस जांच को निष्पक्ष, पैना और निरंतर बनाए रखने में मदद कर सकते

हैं । इन मूल्यों को कहां से लिया जाना है या इन मूल्यों को हम किस प्रकार व्यक्त करेंगे। इन मूल्यों को विभिन्न विषयों के संदर्भ में किस प्रकार समझेंगें या उनकी जांच, विभिन्न पाठ्य सामग्रियों में किस प्रकार करेंगे। ये सारे सवाल फिर शिक्षा के या फिर शिक्षणशास्त्र के दायरे में तय किए जायेंगे न कि किसी स्वतंत्र दायरे में, जिसकी सत्ता लोगों के जीवन में प्राचीन काल से बनी आ रही है । यद्यपि वो सत्ता यानि धर्म की सत्ता पारंपरिक रूप से मूल्यों का स्रोत है । संभव है कि इस सत्ता से भी कुछ ऐसे मूल्य हमें पहचान में आएं जो कि शैक्षणिक दायरे में भी अर्थ रखते हों। यह आश्चर्य की बात नहीं होगी। लेकिन उनका शिक्षा के दायरे में शामिल किया जाना इस कारण नहीं होगा कि उनकी एक धार्मिक हैसियत भी है बल्कि इस कारण होगा कि उनकी एक शैक्षणिक प्रासंगिकता भी देखी जा सकती है।

सन् 1986 की शिक्षा नीति में इस रहस्य को, मैं समझता हूं काफी सफाई के साथ व्यक्त किया गया है। जहां पर यह कहा गया है कि शिक्षा के जरिए ऐसे मूल्य समाज में उभरने चाहिए जो कि समता, सामाजिक न्याय, व्यक्तिगत आजादी और सभी के लिए इज्जत जैसे संवैधानिक मूल्यों को प्रोत्साहित करते हैं। दूसरी तरफ जो दकियानूसी, लकीर के फकीर बने रहने को या कठमुल्लेपन को या किसी भी तरह की कट्टरता को हतोत्साहित करते हैं। यानी मूल्यों की उपयोगिता पर वहां उंगली रखी गई है न कि इस बात पर कि मूल्यों के स्रोत क्या हैं। दरअसल जब शिक्षा के संदर्भ में मूल्यों की बात इस तरह की जा रही है तो यह बात यहां कहना जरूरी है कि शिक्षा स्वयं अपने आप में मूल्यों का संप्रेषण है। कोई भी शिक्षा मूल्यों का संप्रेषण होती है चाहे वो कितनी ही दुरावस्था में पहुंच चुकी हो। यदि आप बच्चों की शिक्षा की बात कर रहे हैं तो उसे मूल्यों से अलग रख ही नहीं सकते। लेकिन आजकल हम अलग से मूल्यों की चर्चा कर रहे हैं। यह इस बात का द्योतक है कि शिक्षा का विमर्श स्वयं कितना खोखला या कि सतही हो चुका है। वरना यह नौबत आनी ही नहीं चाहिए थी। क्योंकि बड़ों और बच्चों के बीच जो संवाद होता है उसमें निश्चित रूप से लगातार मूल्यों की छलनी से एक प्रकार से संवाद छनता रहता है। इस प्रकार हम देखें तो यह शिक्षण का अनिवार्य अंग ही है। लेकिन इसको परिलक्षित करना आज के समय में शायद इसलिए जरूरी हुआ है क्योंकि बहुत से लोग मूल्यों को लेकर एक पूरी राजनीति करना चाहते हैं। उनको डर है कि अगर शिक्षा प्रणाली में अलग से इस प्रकार का प्रगट मूल्य विमर्श नहीं चला तो उनकी राजनीति को पर्याप्त खुराक नहीं मिलेगी। इसलिए इस पूरी चर्चा में यह ध्यान देने की जरूरत है कि धर्म का मुद्दा क्यों उठाया गया और किन संदर्भों में उठाया गया। यह उन संदर्भों में उठाया गया है जबकि भारतीय लोकतंत्र की सबसे बुनियादी संस्था यानी चुनाव में यह मुद्दा स्वयं मदद करेगा । हम पहले से यह देखते चले आ रहे हैं कि धर्म से जुड़े हुए प्रतीकों, धर्म से जुड़े हुए स्थानों और विभिन्न धार्मिक आस्थाओं को उभार करके विभिन्न दलों के नेता लगातार लोगों को एकत्रित करने की कोशिश करते रहे हैं । लेकिन जो परिस्थिति आज बनी है वह निश्चित रूप से बहुत बढ़ी हुई परिस्थिति है जब सारी बहस ही यानी पक्ष एवं प्रतिपक्ष दोनों प्रकार की राजनीति इस समय धर्म से जुड़ी भावनाओं को उभारने की है । यानी लोकतंत्र की बुनियादी संस्था चुनाव को भी अगर धर्म के प्रवेश से बचाया नहीं जा सका जो कि प्रमुख चिन्ता का विषय था तो हम सोच ही सकते हैं कि शिक्षा को बचाना कितना कठिन है ।

शिक्षा का दायरा एक स्वतंत्र वैचारिक दायरा होगा । इस स्वतंत्र वैचारिक दायरे में यह बात भी शामिल है कि सामाजिक जीवन के किसी पहलु पर जांच करने के, उसका विश्लेषण करने के औजार बच्चों को दिए जाएँ । इन पहलुओं में धर्म भी शामिल है। यानि स्कूल वह स्थान है (इस शिक्षा प्रणाली का) जहां पर बच्चों में ऐसे कौशल विकसित किए जा सकते हैं जिन कौशलों के जरिए वो घर, परिवार, समाज या राज्य के संदर्भ में उभरने वाली परिस्थितियों को परखें, विश्लेषण करें, आकलन करें और अपने लिए निर्णय की स्वतंत्रता अक्षुण्ण रखें । यदि शिक्षा के दायरे को हम इस प्रकार परिभाषित करते हैं तो इसके मूल्यों की कल्पना हमें इसी दायरे में करनी पड़ेगी। यानि वो कौन से मूल्य हैं जो इस जांच को निष्पक्ष, पैना और निरंतर बनाए रखने में मदद कर सकते हैं।

इस पूरे विमर्श में दुर्भाग्य की बात यह है कि भारतीय शिक्षण-विधियों पर कोई चर्चा नहीं हुई है। दरअसल यह चर्चा बहुत समय से नहीं हुई है । यह बात पुरानी पाठ्यपुस्तकों पर भी लागू होती थी और अब नई पाठ्यपुस्तकों

पर भी लागू होती है। दरअसल इतिहास एवं समाजविज्ञानों से जुड़े संदर्भों एवं शिक्षण-विधियों की बात आज एकदम नदारद है। यद्यपि 1952-53 के मुदालियर आयोग से लेकर अब तक लगातार भारत में शिक्षा के इतिहास संबंधी जितने महत्वपूर्ण विमर्श हैं उन सभी में यह बात केन्द्रीय महत्व की रही है कि हमें शिक्षण-पद्धतियों में सुधार करना है । लेकिन जब बात इतिहास एवं समाजविज्ञानों पर आती है तो उनमें यह बात बिल्कुल ही नदारत रहती है (मैं यह नहीं कह रहा हूं कि अन्य देशों में यह बहुत ही महत्व के साथ उठाई गई है ।) । लेकिन फिर भी किसी हद तक आप विज्ञान की पुस्तकों में देख सकते हैं कि शिक्षण-विधियों को वहां अपेक्षाकृत ज्यादा पहचाना गया है और बहुत सी संस्थाओं में यह प्रमुख विषय बना। लेकिन समाजविज्ञानों में इस बात को बहुत ही कम पहचाना गया है। शिक्षा की जो संस्थाएँ हैं जैसे एन.सी.ई.आर.टी., उन्होंने इस मुद्दे को बिल्कुल नजरअंदाज किया है।

राघवेन्द्र : *पाठ्यचर्या, पाठ्यक्रम एवं पाठ्यपुस्तकों पर उठे इस विवाद का केन्द्रीय मुद्दा क्या है ? सीखने-सिखाने एवं ज्ञान निर्माण की प्रक्रिया में विद्यार्थियों को केन्द्र में रखकर देखा जाए तो इस केन्द्रीय मुद्दे का विद्यार्थियों से क्या अन्तर्संबंध बैठता है ?*

कृष्णकुमार : इस समय जो चर्चा का विषय है वह दरअसल पाठ्यक्रम भी नहीं है वह मुख्यत: पाठ्यपुस्तक है । हमारे यहां जैसा कि आप सभी जानते हैं, पाठ्यक्रम या पाठ्यचर्या दोनों ही एक प्रकार से खानापूरी करते हैं । असली पाठ्यक्रम तो पाठ्यपुस्तक ही है। देश के बहुसंख्यक स्कूलों में तो कभी सिलेबस पहुंचता ही नहीं है और जहां तक पाठ्यक्रम या पाठ्यचर्या के पहुंचने का सवाल है तो इनको इने-गिने प्राचार्य भी शायद ही देख पाते हैं। यह मामला ऊपर-ऊपर ही विचार -विमर्श का हो जाता है। स्कूली व्यवस्था में इनकी कोई पैठ नहीं है। सिलेबस वैसे तो प्रकाशित किया जाता है पर वह भी हरेक स्कूल तक नहीं पहुंच पाता है। ज्यादातर शिक्षक पाठ्यपुस्तक देखकर ही यह जान जाते हैं कि सिलेबस में क्या है । इसलिए मुद्दा दरअसल पाठ्यपुस्तकों का ही है और मैं तो कहूंगा कि सिर्फ पाठ्यपुस्तकों का ही है। इसलिए यह मुद्दा इस बात पर सिमट कर रह गया है कि पाठ्यपुस्तक किसने लिखी और उसमें क्या शामिल किया गया है क्या नहीं। किन तथ्यों को नजरअंदाज कर दिया गया है और किन तथ्यों को शामिल किया गया है। जो तथ्य शामिल किये गये हैं उनकी किस प्रकार की व्याख्या और किस प्रकार की विवेचना की गई है । सारी बहस इस बात पर है। इस बहस में कुछ भी नया नहीं है । इस पूरी बहस को इस रूप में देखा जाए कि यदि आज की पाठ्यपुस्तकें भाजपाई विचारधारा से लिखी जा रही है तो इसमें नया क्या है ? क्योंकि पहले की पाठ्यपुस्तकें कांग्रेस की विचारधारा, जो कि एक प्रकार से वामपंथी विचारधारा है, से जुडी हुई थीं । एक विचारधारा गयी दूसरी विचारधारा आयी, इसमें नया क्या है यह तो होता ही चला आ रहा है । इसको एक सनातन प्रश्न बनाकर प्रस्तुत किया जा रहा है जबकि सवाल सनातनता याकि निरंतरता का नहीं है। सवाल यह है कि जो लोग इतिहास की बातें लिख रहे हैं वे स्वयं क्या पेशेवर इतिहासकार हैं ? क्या उनकी इतिहास के अपने अनुशासन में इतनी हैसियत है कि उन पर यह भरोसा किया जा सके कि वो इतिहास को तोड-मरोड़ कर प्रस्तुत नहीं करेंगे ।

जहां तक शिक्षण का सवाल है । शिक्षण, खासतौर से शिक्षणशास्त्र की आधुनिक विधियों को मद्देनजर रखकर इतिहास की प्रस्तुति न पहले की किताबों में थी और न यह आज की किताबों में है। दोनों ही इतिहास को एक कहानी के रूप में पेश करती हैं, जिस पर सोचने के लिए या पढ़ाये जाने के लिए, इनमें दी गई जानकारी को अपने ढंग से विश्लेषित करने की कोई गुंजाइश नहीं है। यानी इतिहासकार, इतिहास लेखक या इतिहास शिक्षक की जिम्मेदारी एक जादूगर जैसी होती है । वह यह बताता जाता है कि ऐसा-ऐसा हुआ। पर वह नहीं बतलाता है कि उसको कैसे मालूम है कि ऐसा हुआ। यानी बच्चा यह नहीं पूछ सकता कि इसका क्या प्रमाण है कि ऐसा हुआ। प्रमाण को बच्चे की पहुंच से बाहर ही रखा जाता है। क्योंकि इसके पीछे मान्यता यह छुपी रहती है कि प्रमाण बताना तो बच्चों के लिए गैर जरूरी है या बच्चे प्रमाण नहीं समझ सकते । इसलिए संकेतवश भी कोई प्रमाण नहीं दिया जाता है । लगातार परछाइयों के जरिए एक लम्बी कहानी बताई जाती है । इसलिए इसको लेकर बच्चों से यही अपेक्षा रहती है कि वो इनमें विश्वास करें ।

शिक्षा में दरअसल वह संभावना होनी चाहिए जो कि बच्चों में स्वयं किसी घटना का प्रमाण जानने या कि उसकी जांच करने का सामर्थ्य उपजा सके तभी वह विचारधाराओं के जंगल में अपने लिए कोई उपयुक्त विचारधारा चुन सकेगा। यह है जिम्मेदारी की बात जो मुख्यत: शिक्षा के जरिए निभाई जानी चाहिए थी। लेकिन इतिहास की शिक्षा इस जिम्मेवारी से अलग चलकर महज एक नैतिक कथा के रूप में इतिहास के प्राचीनकाल से चली आ रही है। कभी भी वह स्वयं जांचकर विश्लेषण करने, खोज करने या इतिहासकारों के बीच पाए जाने वाले मतभेद को समझने में असमर्थ है । अगर कोई यशपाल समिति की इस बात को थोड़ा स्पष्ट समझे कि यशपाल समिति ज्ञान को इस तरह से लिए जाने की बात करती है जो बच्चे के द्वारा बनाया जाता है । इसलिए वह पाठ्यक्रम के ढाँचे से थोड़ा हटकर उस पर विचार करती है। यशपाल समिति केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण के दो धुव्रों के बीच झूलने वाले विमर्श से अलग शिक्षा की भूमिका स्वीकार करती है। इस धुवीकृत विमर्श का अर्थ दरअसल बहुत ही सीमित है । हमारे यहां पाठ्यक्रम के विकेन्द्रीकरण से आमतौर पर यह अर्थ लिया जाता है कि उसमें शिक्षकों की भागीदारी हो। शिक्षकों की भागीदारी से आशय यह होता है कि विभिन्न परिस्थितियों में काम कर रहे शिक्षक अपने-अपने अनुभव से पाठ्यक्रम को, पाठयचर्या को तथा पाठ्य पुस्तकों को जांचे । पर जैसा कि हमने पिछले प्रश्न के उत्तर में कहा है कि मुख्य सवाल पाठ्यपुस्तकों का है, पाठ्यक्रम और पाठ्यचर्या तो सजावट के लिए रखने की चीज है । जो विशेषज्ञ केवल अपने सुख के लिए स्वात: सुखाय रचते हैं और जो शिक्षा को आधुनिक कहलाने की पात्रता देने के लिए इस्तेमाल किया जाता है । वरना भारतीय शिक्षा व्यवस्था में पाठ्यक्रम तथा पाठ्यचर्या का कोई स्थान नहीं है।

हमारे यहां जैसा कि आप सभी जानते हैं, पाठ्यक्रम या पाठ्यचर्या दोनों ही एक प्रकार से खानापूरी करते हैं । असली पाठ्यक्रम तो पाठ्यपुस्तक ही है। देश के बहुसंख्यक स्कूलों में तो कभी सिलेबस पहुंचता ही नहीं है और जहां तक पाठ्यक्रम या पाठ्यचर्या के पहुंचने का सवाल है तो इनको इने-गिने प्राचार्य भी शायद ही देख पाते हैं। यह मामला ऊपर-ऊपर ही विचार -विमर्श का हो जाता है। स्कूली व्यवस्था में इनकी कोई पैठ नहीं है। सिलेबस वैसे तो प्रकाशित किया जाता है पर वह भी हरेक स्कूल तक नहीं पहुंच पाता है। ज्यादातर शिक्षक पाठ्यपुस्तक देखकर ही यह जान जाते हैं कि सिलेबस में क्या है । इसलिए मुद्दा दरअसल पाठ्यपुस्तकों का ही है और मैं तो कहूंगा कि सिर्फ पाठ्यपुस्तकों का ही है।

राघवेन्द्र : पाठ्यचर्या, पाठ्यक्रम एवं पाठ्यपुस्तकों के विकेन्द्रीकरण का आप लगातार समर्थन करते रहे हैं । इस पूरे विवाद के संदर्भ में केन्द्रीकरण एवं विकेन्द्रीकरण के मुद्दे को आप कैसे देखते हैं ?

कृष्णकुमार : समाज के उन मध्यवर्ग के या कुलीन वर्ग के बच्चे जो कि बड़े पैमाने पर सरकारी स्कूल से हटाकर निजी स्कूलों में भेजे जा रहे हैं उनके लिए तो पाठ्यपुस्तकों की व्यवस्था विकेन्द्रित ही है । लेकिन जो सरकारी स्कूल में पढ़ने के लिए (जहां अपेक्षाकृत कम साधन संम्पन्न वर्ग के बच्चे जाते हैं) आते हैं, उनके लिए केन्द्रीकृत पाठ्यपुस्तकें हैं । तो हम इस प्रश्न को इस तरह उठा सकते हैं कि समाज में जो वर्ग विभाजन दिखाई देता है उस वर्ग विभाजन में भी इस वाले विमर्श को समझा जा सकता है ।

ये मामला पाठ्यक्रम एवं पाठ्यचर्या के केन्द्रीकरण विकेन्द्रीकरण के किए जाने का नहीं है बल्कि मामला यह है कि ऐसा कैसे हुआ कि साधन सम्पन्न बच्चों को तो तरह-तरह की पाठ्यपुस्तकें उपलब्ध हैं जबकि सरकारी स्कूल के अपेक्षाकृत बहुसंख्यक बच्चों को या कि गरीब बच्चों को एक ही पाठ्यपुस्तक की अनिवार्यता है। जाहिर है कि यह भी एक प्रकार का शिक्षा का राजनीतिकरण है। शिक्षा के इस विभाजित ढांचे के जरिए सरकार ने उच्च मध्यम वर्ग को या अपेक्षाकृत सम्पन्न वर्ग को यह छूट दे दी है कि वो बाजार में चुनाव करें कि कौन सी अच्छी पाठ्य पुस्तकें हैं कौन सी नहीं है, जो पसंद आए वो वे लें। जो आम जनता के बच्चे हैं उन पर एक निश्चित विचारधारा थोपने के लिए एक केन्द्रीकृत पाठ्यपुस्तक की व्यवस्था है । यह मामला ठीक ठीक मीडिया जैसा है कि जिनके पास केबल है वह 60 चैनल देख सकते हैं और जिनके पास नहीं हैं वो दो चैनलों से काम चलाए। देश के बहुसंख्यक लोगों के पास दो ही चैनलों वाला टेलीविजन है और वो सरकारी तत्वाधान प्रावधान में ही चलता है । जबकि देश का जो मध्यवर्ग है वह आराम से तरह-तरह के चैनलों में से समाचार मनोरंजन देख सकता है ।

पाठ्यपुस्तकों की स्थिति ठीक इसी प्रकार की है । इसलिए यह मामला सिर्फ केन्द्रीकरण या विकेन्द्रीकरण का नहीं है बल्कि शिक्षा को एक वर्गीकृत होते हुए और अधिकाधिक विभाजित होते हुए समाज के संदर्भ में समझने का है जिससे कि हम ऐसे उपाय खोजे सकें जो कि शिक्षा के जरिए बढ़ते हुए वर्गीकरण को किसी न किसी प्रकार से नीतिगत अंकुश के दायरे में ला सकें। सबसे पहले न्यायपालिका को लें । ये जो याचिका सुप्रीम कोर्ट में गई थी उसी की पृष्ठभूमि में समझा जा सकता है कि शिक्षा में न्यायपालिका के हस्तक्षेप की जरूरत उपस्थित होने का आशय ही यह है कि शिक्षा का अपना जगत, शिक्षा के निर्णयों को लेने, उस पर सम्यक विचार-विमर्श करने सहमतियों या असहमतियों पर ध्यान देने में असमर्थ है। यह परिस्थिति राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा के संदर्भ में लगभग ढाई सालों से चली आ रही है और पूरी जिद् के साथ,पूरे होशोहवाश में शिक्षा नीति की सर्वोच्च संस्था एन.सी.ई.आर.टी. ने इस फ्रेमवर्क पर उठाई गई अत्यन्त गहरी आपत्तियों की अवहेलना की है। उन पर कोई ध्यान नहीं दिया । चाहे वो देश की बड़ी-बड़ी संस्थाओं के द्वारा या लोगों के द्वारा व्यक्त की गई हों, उनके लिए असहमतियों का कोई अर्थ ही नहीं है । यह एक तरीके से उनके लिए डामर बिछाने वाला इंजन चल रहा है जिसके नीचे हर तरह की आपत्तियों एवं असहमतियों को कुचला जा रहा है । और इस माहौल के चलते ही वह परिस्थिति आई जब जनवरी 2002 में ऐसा लगने लगा कि अब इस पाठ्यक्रम के लागू किए जाने और इसके आधार पर की गई पाठ्यपुस्तकों के प्रकाशन से बच्चों को बचाना असंभव है । ऐसी स्थिति में कुछ समाज सेवकों ने न्यायपालिका का दरवाजा खटखटाया ।

राघवेन्द्र : *शिक्षा की प्रक्रिया में राज्य सत्ता एवं न्यायपालिका के हस्तक्षेप एवं उसकी भूमिका को आप किस प्रकार देखते हैं ?*

कृष्णकुमार : इस प्रसंग से यह स्पष्ट होता है कि आमतौर पर न्यायपालिका के पाठ्यक्रम जैसे मुद्दे में कोई हस्तक्षेप करने की आवश्यकता उपस्थित नहीं हुई है । वह हुई है इसका आशय है कि शिक्षा जगत वैचारिक रूप से अत्यन्त दरिद्र और अधिनायकवादी शक्तियों का शिकार है । लेकिन शिक्षा के और भी मुद्दे हैं। मिसाल के तौर पर शिक्षा के वितरण का सवाल, समाज के किस वर्ग की शिक्षा तक पहुंच है, किस वर्ग की नहीं है, शिक्षा पर एकाधिकार का सवाल या भारत के भूगोल के क्षेत्रीय विन्यास पर पाई जाने वाली विषमता का सवाल। इन संदर्भों में न्यायपालिका की जरूरत है और बनी रहेगी । क्योंकि शिक्षा अंततः सामाजिक न्याय रही है और जब तक सामाजिक न्याय कशमकश का, संघर्ष का मुद्दा है तब तक न्यायपालिका का हस्तक्षेप निरंतर होना एक प्रकार से जरूरी होगा । क्योंकि सामाजिक न्याय अपने आप में तरह-तरह की परिस्थितियों को जन्म देता है जिसमें वर्गों की, क्षेत्रों की, संस्थाओं की टकराहट होती रहती है और उस टकराहट का इलाज अगर न्यायपालिका प्रदान करती है तो यह लोकतंत्र के लिए स्वास्थ्य का लक्षण है । क्योंकि लोकतंत्र में टकराहटों को जन्म देने और टकराहटों को अहिंसक ढंग से विचार एवं तंत्र के माध्यम से निपटाने की व्यवस्था न्यायपालिका के जरिए है । इसलिए अगर शिक्षा के संदर्भ में भी इसी प्रकार की टकराहटें जन्म लेती हैं तो वहां न्यायपालिका की जिम्मेवारी बनती है।

अब सवाल उठता है - राज्य एवं शिक्षा का । यह सवाल बहुत ही सैद्धांतिक सवाल है और उसको बहुत संक्षेप में समझाना या उस पर विचार करना बहुत मुश्किल काम है । क्योंकि अगर आप एक आदर्श राज्य की कल्पना कर रहे हैं जैसी कि महात्मा गांधी ने की या प्राचीनकाल में प्लेटो ने की थी तो ऐसे राज्य में तो आप कह सकते हैं कि शिक्षा की सत्ता एक स्वतंत्र सत्ता होनी चाहिए जिसका राजनैतिक सत्ता से कोई सीधा संबंध न हो । इस प्रकार की शिक्षा जगत की कल्पनाएं आज तक अनेक शिक्षाविद्ों तथा राजनैतिक चिन्तकों ने की है जिनमें प्लेटो, मार्क्स, गांधी प्रमुख चिन्तक कहे जा सकते हैं । लेकिन अगर हम समकालीन परिस्थितियों और ऐतिहासिक परिस्थितियों पर विचार करें तो ऐसा प्रतीत होता है कि अगर ऐसी स्थिति आदर्शवाद की कल्पना की ओर प्रस्थान भी करती है तो वह प्रस्थान राज्य की मदद से ही किया जा सकता है । अगर शिक्षा को राज्य के ढांचे से अपेक्षाकृत एक मुक्त जगत, वैचारिक जगत में स्थापित करने की कल्पना अथवा आशा है (जो कि अभी शुरू नहीं हुई) तो ऐसे भविष्य की ओर प्रस्थान बिन्दु का काम भी राज्य की मदद के बिना किया जाना

संभव नहीं है। क्योंकि राज्य ही वह साधन है जिसके जरिए इतिहास में हस्तक्षेप होता है जैसा कि हम 1947 में देखते हैं । 1947 की स्वतंत्रता एक राजनैतिक प्रस्थानबिन्दु है जिसके बाद संविधान के जरिए भारतीय समाज में एक बुनियादी परिवर्तन करने के इरादे से राज्य की संरचना का सैद्धांतिक जन्म हुआ । इस संरचना में शिक्षा को समाज की पुनर्रचना का औजार माना गया । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि यहां राज्य की एक ऐतिहासिक जरूरत है । इसी को अगर सत्ता से जोड़ें तो सत्ता में जो भी काबिज हो उसको राज्य की परिकल्पना के अन्दर काम करने का दायित्व निभाना होगा । सत्ताधारी दल को, सत्ता में शामिल तंत्र को या सरकार को शिक्षा का इस्तेमाल सही उद्देश्यों के लिए करने की हिदायत संविधान देता है जिन उद्देश्यों के खातिर राज्य का निर्माण हुआ है । इससे अलग कोई उद्देश्य किसी सत्तावान दल, या सत्ताधारी विचारधारा के बनते हैं तो उद्देश्य राज्य की परिकल्पना पर ही प्रश्न चिन्ह उठाते हैं। इसीलिए आज एन. डी. ए. सरकार के संदर्भ में शिक्षा को लेकर जो तनाव फैला है उसका कारण ही यह है कि उनकी विचारधारा, संविधान के तहत बने राज्य के अवधारणात्मक ढांचे में कई असहमतियां के साथ बनी और वह इन असहमतियों को प्रोत्साहित भी करना चाहती है ।

शिक्षा अंतत: सामाजिक न्याय रही है और जब तक सामाजिक न्याय कशमकश का, संघर्ष का मुद्दा है तब तक न्यायपालिका का हस्तक्षेप निरंतर होना एक प्रकार से जरूरी होगा । क्योंकि सामाजिक न्याय अपने आप में तरह-तरह की परिस्थितियों को जन्म देता है जिसमें वर्गों की, क्षेत्रों की, संस्थाओं की टकराहट होती रहती है और उस टकराहट का इलाज अगर न्यायपालिका प्रदान करती है तो यह लोकतंत्र के लिए स्वास्थ्य का लक्षण है । क्योंकि लोकतंत्र में टकराहटों को जन्म देने और टकराहटों को अहिंसक ढंग से विचार एवं तंत्र के माध्यम से निपटाने की व्यवस्था न्यायपालिका के जरिए है । इसलिए अगर शिक्षा के संदर्भ में भी इसी प्रकार की टकराहटें जन्म लेती हैं तो वहां न्यायपालिका की जिम्मेवारी बनती है।

आज ऐसा पुष्ट हो गया है कि वे ऐसा इसलिए नहीं कर रहे हैं ताकि संविधान में संजोई गई राज्य की परिकल्पना को आगे बढ़ाया जा सके। बल्कि वह ऐसा इसलिए कर रहे हैं ताकि अपने दल की सत्ता को अधिकाधिक फैलाया जा सके । इसलिए आज एक विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थिति उपस्थित हुई है । इस परिस्थिति में भी हम एक बार फिर राज्य की संस्थाओं से ही यह आशा कर सकते हैं कि वो इस परिस्थिति से समाज को उबारें । इन संस्थाओं में संसद एवं न्यायपालिका का एक प्रमुख स्थान है क्योंकि कार्यपालिका जो स्वयं एक सत्ता के ही अलग अलग ढांचे में और सत्ता के अन्तर्गत चलती है अपनी स्वतंत्रता एक प्रकार से खो देती है । यद्यपि कार्यपालिका के पास ही संविधान की यह जिम्मेवारी आती है कि वह धर्मनिरपेक्ष एवं दलनिरपेक्ष ढंग से काम करे और संविधान में प्रदत्त उद्देश्यों के लिए ही करे । लेकिन आप देख रहे हैं कि पिछले प्रमुख सचिव ने एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा निकाली गई मूल्य शिक्षा की पत्रिका में एक ऐसा लेख लिखा था जो कि इस्लाम पर सीधे-सीधे बहुत दुर्भाग्यपूर्ण टिप्पणी करता है जबकि इस्लाम भारतीय समाज में माने जाने वाले धर्मों में से एक धर्म है । कार्यपालिका के एक इतने बड़े कारिन्दे की कलम से ऐसा लेख सरकार की एक संस्था की पत्रिका में छपा । फिर भी संसद में क्षमाचायना ही पर्याप्त मान ली गई और उसको लेकर कोई विशेष कदम नहीं उठाया गया । यह बात दिखाती है कि कार्यपालिका पूरी तरीके से आज सत्ता के सामने घुटने टेक चुकी है ।

यह कोई नई बात नहीं है । अनेक क्षेत्रों में अनेक लोग यह दिखा चुके हैं कि भारत की ब्यूरोक्रेसी स्वतंत्र नहीं है बल्कि वह पूरी तरह से राजनीति की दास है । ऐसी स्थिति में उस पर यह आशा का बोझ नहीं डाला जा सकता कि वह शिक्षा की वैचारिक स्वायत्तता की रक्षा करे एवं उसे भारतीय राज्य एवं संविधान में निहित मूल्यों की परिधि में रखने की जिम्मेवारी निभाए। अब यह जिम्मेवारी दो ही संस्थाओं के लिए बची रहती है। एक तो है विधायिका जिसमें संसद और राज्यों की विधानसभाएँ एवं विधान परिषदें हैं । दूसरी संस्था है न्यायपालिका । इन दो बची हुई संस्थाओं के जरिए शिक्षा का संवैधानिक स्वरूप कब तक सुरक्षित रह पाएगा, यह भविष्यवाणी करना संभव नहीं है । लेकिन इतना तो कहा जा सकता है कि जब तक वो सुरक्षित रहेगा तभी तक लोकतंत्र सुरक्षित रहेगा। अगर वो मरेगा तो साथ में लोकतंत्र भी या तो उसके पहले मर चुका होगा या साथ में ही मर जाएगा । ◆